Chap- 1

अध्याय पहला : लोक संस्कृति : एक पृष्ठभूमि

संस्कृति :

संस्कृति शब्द मूलतः 'कृ' धातु से संबद्ध है जिसका अर्थ है 'करना'। इसके पूर्व 'सम्' उपसर्ग तथा धत्र (ति) प्रत्यय लगाने से संस्कार शब्द बनता है जिसका अर्थ 'पूरा करना', 'सुधारना', 'सज्जित करना', 'माँजकर चमकाना', 'श्रृंगार' आदि है। इसी से संबद्ध शब्द संस्कृत है जो सम् + कृ + क्त से बना है तथा जिसका अर्थ सुधारा हुआ व्याकरण है। इसी विशेषण की संज्ञा 'संस्कृति' है।

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार - संस्कृत शब्द सम् उपसर्ग के साथ संस्कृत की (डु) कृ (ञ) धातु से बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ़ या परिष्कृत करना है। आज हिन्दी में यह अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का पर्याय माना जाता है। संस्कृति शब्द का प्रयोग कम से कम दो अर्थ में होता है, एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थ में। व्यापक अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग नर विज्ञान में किया जाता है। जिसके अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार का नाम है जो सामाजिक परंपरा से प्राप्त होता है। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाध्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं। नर विज्ञानियों के अनुसार 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्द पर्यायवाची हैं।[1]

संस्कृति है क्या? शब्दकोश में अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि 'संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आपको परिचित करना संस्कृति है।' दूसरी परिभाषा के अनुसार 'संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण द्दढ़ीकरण या विकास अथवा उनसे उत्पन्न अवस्था है।' यह ''मन, आचार या रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि' है। यह 'सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना'' है।

संस्कृति की शास्त्रीय परिभाषा :- मनुष्य आज जो कुछ भी है वह सभी संस्कृति की देन है। यदि मनुष्य से उसकी संस्कृति छीन ली जाए तो मनुष्य श्रीहीन हो जाएगा। विद्वानों का मत है कि मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि उसके पास संस्कृति है। संस्कृति की इस महत्ता को देखते हुए जो परिभाषाएँ दी गई हैं वे इस प्रकार हैं :

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार - 'संस्कृति विवेक बुद्धि का जीवन भली प्रकार मान लेने का नाम है।'[2]

डॉ. रामधारीसिंह दिनकर - 'संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।''[3]

डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र - 'माँजी संवरी जीवन-वृत्ति तथा जीवन-धर्म ही संस्कृति है।'[4]

---

1. हिन्दी साहित्य कोश - डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी, पृ. 801
2. डॉ. एस. राधाकृष्णन - स्वतंत्रता और संस्कृति, पृ. 53
3. डॉ. रामधारीसिंह दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 98
4. डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र - भारतीय संस्कृति, पृ. 5

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल - 'संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान, भविष्य का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं तैरती, उसका मूर्तमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।'[1]

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी - 'संस्कृति मानव की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।'[2]

डॉ. सत्यकेतु - 'चिंतन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुंदर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में होता है।'[3]

स्वामी ईश्वरानंदगिरि - ''संस्कृति मानव की आत्मोन्नति का मापदंड भी है और आत्माभिव्यक्ति का साधन भी। संस्कृति एक चेतन धर्म है। संस्कृति को केवल बाह्य रूप या क्रिया ही नहीं मान लेना चाहिए। उसका आधार जीवन के मूल्यों में है और पदार्थों के साथ स्व को जोड़ने की सूक्ष्म कला में है।''[4]

श्यामचरण दूबे - 'संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन की पूर्ण पृष्ठभूमि में अपना स्थान पाता है और संस्कृति के द्वारा उसे जीवन में रचनात्मक संतोष के साधन उपलब्ध होते हैं।'[5]

भारतीय विद्वानों की परिभाषाओं के बाद कुछ विदेशी विद्वानों की मान्यताएँ इस प्रकार रही हैं-

E. B. Taylor - "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities & habits acquired by man as a member of society"[6]

R. Benedict - "A culture like an individual, is a more or less consistent pattern of thought & action."[7]

M. J. Herskovits - "Culture is the man made part of the environment."[8]

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि संस्कृति अपने आप में कोई एक ऐकिक तत्व नहीं है बल्कि व्यापक रूप में मानव के आंतरिक और बाह्य क्रिया कलापों को प्रदर्शित करने वाला वह व्यापक तत्व है जिसके आधार पर मानव अपनी विशेषताएँ बनाए हुए है।

डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार, ''मानव के सामाजिक और वैचारिक व्यवहार तथा उससे विकसित चीजें जैसे विचार, साहित्य, कला, कानून, नैतिकता, जाति, धर्म, दर्शन, विश्वास, रीति-रिवाज आदि के समवेत रूप को संस्कृति कहते हैं। ये सभी समवेत रूप संस्कृति हैं, अतः एक प्रकार से संस्कृति के घटक हैं।''[9]

---

1. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल - कला और संस्कृति, पृ. 3
2. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी - अशोक के फूल, पृ. 64
3. डॉ. सत्यकेतु - भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास
4. स्वामी ईश्वरानंदगिरि - तरु संस्कृति, पृ. 9-10
5. श्यामचरण दूबे - मानव और संस्कृति, पृ. 74
6. E. B. Taylor - Primitive Culture, Vol. I.P.I.
7. R. Bendict - Patterns of Culture, Pg. 46
8. M. J. Herskovits - Man and his work, Pg. 17
9. डॉ. भोलानाथ तिवारी - भाषा और संस्कृति, पृ. 45

मानव जहाँ जन्म लेता है अपनी उस जन्मभूमि को कभी नहीं भूल सकता क्योंकि वहाँ उसके संस्कार निर्मित हुए हैं। यही संस्कार संस्कृति का निर्माण करते हैं। जिस वातावरण, परंपराओं और आस्थाओं के बीच पलता-बढ़ता है उसका प्रभाव उसकी अंतरात्मा में घुल-मिल जाता है व अमिट छाप छोड़ जाता है। उसके खून का रंग संस्कारों से निर्मित होता है। उसके एकान्तिक क्रिया-कलापों से ज्ञात होता है अमुक व्यक्ति अमुक संस्कृति से संबंधित है।

मनुष्य संस्कृति का निर्माता है और उसका सजग संवाहक भी। संस्कृति, संवेदनशीलता की भूमि पर खड़ी होती है। उसके बंध इतने लचीले होते हैं कि अन्य विजातीय संस्कृति के प्रभावी तत्व उसके घेरे में आ सकते हैं। मानव के बिना संस्कृति के निर्माण की कल्पना अधूरी है, क्योंकि संस्कृति के केन्द्र में बेशक मनुष्य है। पशु और मानव में यही तो अंतर है कि पशु कोई संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकता, जबकि मनुष्य संस्कृति निर्मित कर सकता है। किसी भी संस्कृति का निर्माण हजारों लाखों वर्षों में होता है जिसमें मानवश्रम की मुख्य भूमिका होती है।

जब से मानव ने बोलना सीखा तभी से वाचिक परंपरा की नींव पड़ी थी। बोली और उसके बाद भाषा ने सांस्कृतिक धरोहर को अधिक मूल्यवान व अर्थवान समृद्धि प्रदान की। शब्द संस्कृति के संवाहक बने, मानव की पहचान बने। शब्द कहीं काव्य तो कहीं संगीत बन गये। शब्दों ने अनेक गाथाओं को जन्म दिया कहीं ये लोककथाएँ बने तो कहीं अर्थ, दर्शन और विज्ञान की भाषा में व्यक्त हुए। अर्थात् संस्कृति मानव से परे नहीं है और शब्द मनुष्य की संस्कृति की नींव है। संस्कृति शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। शब्द के बिना संस्कृति मूक है।

रचनाशीलता की प्रवृत्ति होने के कारण मनुष्य प्रकृति के उपादानों की उपयोगिता को समझकर विज्ञान के सहारे भौतिक सामग्रियों का निर्माण करता आया है। जिस वस्तु का मनुष्य सृजन करता है, वह संस्कृति का हिस्सा बन जाता है। मानव की रचना का संसार बहुआयामी, वैविध्यपूर्ण है। मनुष्य ने हजारों वर्षों में कुटुंब, कबीला, गोत्र, परिवार, समाज, परंपराएँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, अनुष्ठान, संस्कार, संबंध, खेलकूद, गीत, नृत्य, कला, शिक्षा, नीति, धर्म, दर्शन, अद्दश्य जगत, विश्वास आदि के जरिये सांस्कृतिक वातावरण का ताना-बाना अपने लिये अपने आसपास बुना है। पश्चिम के प्रसिद्ध समाजशास्त्री मर्डाक ने संस्कृति के कतिपय सर्वमान्य तथ्यों की ओर इंगित किया है, जिनमें मनुष्य के उन क्रियाकलापों को शरीक किया गया है, जिनसे मनुष्य, मनुष्य बनता है जिससे उसका सांस्कृतिक वलय पूरा होता है।'[1]

'संस्कृति का शाब्दिक अर्थ संस्कारों की सम्यक्कृति के रूप में है। सम्यक्कृति सिर्फ मानवीकृत हो सकती है।'[2] मानव की कृतियाँ ही संस्कृति का स्वरूप बनाती हैं। संस्कृति अपने आप में बहुविध है। इसमें मानव और प्रकृति के बीच चलनेवाले अनेक संबंध निहित हैं जिसमें अन्न का अर्जन, रक्षण, आवास निर्माण, प्राकृतिक वस्तुओं में परिवर्तन कर उनका हथियारों, औजारों, बर्तन के रूप में उपयोग, पशुओं, वनस्पतियों, वातावरण इत्यादि का उचित उपयोग। दूसरे अनेक सांस्कृतिक व्यापारों की मदद से जीवन को समृद्ध एवं

---

1. डॉ. मर्डाक – जे. पी. सोशल स्ट्रेक्चर 1949 न्यूयार्क
2. पं. सातवलेकर श्रीपाद दामोदर – वैदिक संस्कृति मूल तत्व सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कृति अंक से

नियंत्रित बनाने हेतु विविध उपायों की तलाश का समावेश रहता है। परिवारों, गाँवों, जातियों के बीच परस्पर बंधन या ऐक्य भी संस्कृति की इस बहुविधता में आता है।

प्रत्येक संस्कृति की अपनी सीमाएँ और विशेषताएँ होती हैं। आदान-प्रदान से विभिन्न संस्कृतियों में समन्वय होता रहता है। एक संस्कृति की छाप दूसरी पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य पड़ती है। संस्कृति निरंतर प्रवाह होनेवाली सलिला के समान गतिमान रहती है। कर्म और ज्ञान दोनों के प्रकाश पुञ्ज का नाम संस्कृति। यह उचित ही कहा गया है कि संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है, संस्कृति के बिना जन की कल्पना कबन्ध मात्र है।' संस्कृति की सुगंध एवं सुंदरता में ही संपूर्ण राष्ट्रजीवन का यश तथा सौंदर्य माना गया है। स्वामी रामतीर्थ का कथन यथायोग्य है, ''संस्कृति जीवन का पर्याय ही नहीं, वह तो जीवन की कुंजी है।''

यद्यपि विभिन्न संस्कृतियों के मूल तत्व सर्वत्र समान ही होते हैं, किंतु प्रत्येक संस्कृति में अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिससे उसकी अपनी अलग पहचान बनती है। संस्कृति की मूल रूप से कुछ विशेषताएँ हैं जिन्हें संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है-

(1) **संस्कृति का मानव द्वारा निर्माण** – केवल मनुष्य ही है जो संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़ा एवं उसका निर्माता है। अपनी शारीरिक क्षमता, गठन, बौद्धिक स्तर तथा वाक्शक्ति के कारण केवल वही संस्कृति का निर्माण कर सकता है।

(2) **सीखने की विशेषता** – मानव जन्मजात संस्कृति को लेकर पैदा नहीं होता वरन् अपने सामाजिक परिवेश के अनुरुप संस्कृति सीखता है, गुण ग्रहण करता है।

(3) **संस्कृति का हस्तांतरण** – इसका हस्तांतरण भाषा के माध्यम से होता है क्योंकि मानव अपने विचारों का आदान-प्रदान भाषा द्वारा ही करता है। नई पीढ़ी अपने पूर्वजों से ज्ञानालाभ लेती रहती है और ऐसे ही सांस्कृतिक हस्तांतरण से संस्कृति का भंडार अभिवृद्ध होता रहता है।

(4) **संस्कृति की विशिष्टता** – प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्टता होती है। अपना समाज, अलग इतिहास, परंपराएँ, परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक संस्कृति में विभिन्नता होती है।

(5) **सामाजिकता का गुण** – संस्कृति कोई विशेष व्यक्ति की नहीं अपितु समाज की देन है। समाज ही के कारण उसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। जिसके अभाव में संस्कृति की तुलना अशक्य है या असंभव है। रीतिरिवाज, परंपराएँ, आचार-व्यवहार, धर्म इत्यादि तत्व हैं जो समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(6) **आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक** – संस्कृति मानव की सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। अपनी इन आवश्यताओं की पूर्ति हेतु ही मानव ने संस्कृति का निर्माण किया है।

(7) **अनुकूलन की क्षमता** – जैसे पहले कहा कि संस्कृति एक सलिला समान है जो स्वानुकूल मार्ग का निर्माण कर लेती है। उसी प्रकार संस्कृति भी अपने समय, स्थान, समाज एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढल जाती है। अतएव कहा जा सकता है कि संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता है।

(8) **संतुलन एवं संगठन** – संस्कृति अपने आप में कोई एक इकाई नहीं वरन् कई तत्वों एवं इकाइयों को मिलाकर संस्कृति का निर्माण होता है। विद्वानों का मत है कि 'संस्कृति तत्व' और 'संस्कृति संकुल' मिलाकर ही संस्कृति का निर्माण करते हैं। एक विचारक के इस संबंध में विचार उचित हैं – 'जिस प्रकार हरी मिट्टी को संस्कृत करने से भास्वत् ताम्र मिल सकता है, वैसे ही मनुष्य जाति के स्थूल धातु से संस्कृति द्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं। जिससे मानवता का संस्कार हो, ऐसी शिक्षा-दीक्षा, ऐसा रहन-सहन और ऐसा परंपराएँ ही संस्कृति के उद्भावन हैं। संस्कृति एक सामाजिक विरासत है।'[1]

अर्थात् संस्कृति अपने आप में बहुत व्यापक और गंभीर अर्थ का बोधक है। यह कहना सर्वथा गलत न होगा कि सुधरे संवरे संस्कार और आचार-विचारों का समुच्चय ही संस्कृति है।

''प्राचीन भारतीय वाङ्मय में संस्कृति शब्द का प्रयोग आचार-विचार के अर्थ में पाया जाता है। अंग्रेजी का 'कल्चर' शब्द संस्कृति का अनुवाद है।''[2]

संस्कृति शब्द संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि अन्य भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में युगों से प्रतिष्ठित है।

''संस्कृति वह साँचा है, जिसमें समाज के विचार ढलते हैं, वह बिन्दु है जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं।'[3]

संस्कृति और सभ्यता आपस में निर्भर हैं। कभी संस्कृति में सभ्यता का और कभी सभ्यता में संस्कृति का संतरण होता रहता है। संस्कृति से सभ्यता जन्म लेती है और जब सभ्यता का रूप विस्तृत हो जाता है, तो उसमें अनेक संस्कृतियों को समाहित करने की शक्ति होती है। संस्कृति कभी व्यक्तिगत नहीं होती वरन् समष्टिगत होती है। संस्कृति सदैव जीवित होने का नाम है। संस्कृति मानव के आंतरिक चरित्र की साक्ष्य है। यह मानव के बौद्धिक, कलात्मक विकास की अवस्था बताती है। यह आत्मा की वस्तु है।

''समृद्ध सभ्यता में संस्कृति का विकास होता है और उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित विकसित होते हैं।''[4]

संस्कृति अन्तःकरण की शुचिता से प्रारंभ होती है। अंतःकरण की शुचिता से बाहरी आचरण की शुचिता अपने आप आ जाती है।

****

---

1. वाचस्पति गैरोला – भारतीय संस्कृति और कला, पृ. 604
2. महामहोपाध्याय पं. शर्मा गिरधर चतुर्वेदी साहित्य वाचस्पति – वैदिक संस्कृत का आधार – संमेलन पत्रिका – लोक संस्कृति अंक लेख से
3. डॉ. संपूर्णानंद – भारतीय संस्कृति का प्राण – संमेलन पत्रिका – लोक संस्कृति अंक, पृ. 25 से
4. पं. जवाहरलाल नेहरु – भारत एक खोज से

भारतीय संस्कृति

भारत में प्रायः दो तरह की संस्कृति की व्याख्या की जाती रही है। एक है प्राचीन सुविचारित वैदिक संस्कृति और दूसरी व्यापक लोक संस्कृति। वेद को श्रुति कहा जाता है। श्रुति का अर्थ सुनना है। गुरु परम्परयाऽनुश्रुयते इत्यानुश्रुविकाः अर्थात् गुरु परंपरा से ही जो सुना जाता है, उसी को श्रुति कहते हैं।[1]

वैदिक संस्कृति का मूल लोक संस्कृति है। वैदिक संस्कृति उच्च वर्ग की सुगठित और विचारित पद्धति है। वैदिक संस्कृति अतिविकसित, अतिबौद्धिक भारतीय मानव की संस्कृति है, जिसकी चर्चा समस्त संसार में की जाती है। मानव को सुसंस्कृत करना न तो एकाएक संभव है न ही सरल। इसमें किसी एक व्यक्ति, धर्म, संस्कार, समय, काल का योगदान अथवा प्रभाव नहीं होता अपितु निरंतर प्रवाहित होनेवाली परंपरा का योगदान होता है, जिनके ये सभी अंग हैं। भारतीय संस्कृति भी इसका अपवाद नहीं है। कितने ही धरातलों और स्थलों को पार करके भी अपने मूल से जुड़ी रही और निरंतर प्रवाहित भी होती रही। भारतीय संस्कृति को सनातन संस्कृति का नाम दिया गया क्योंकि भारत का धर्म सनातन धर्म है। भारतीय संस्कृति जीवन के चार वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उच्चतम तलाश है।

जिस भारतीय संस्कृति की चर्चा की जाती है, वह वैदिक संस्कृति ही है। भारतीय संस्कृति में मूलतः वेद पुराण और उपनिषदों की चर्चा होती है। वेदों में विश्व कल्याण भावना समाविष्ट है। ऋग्वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रंथों में से एक हैं। वेदों में मानवीय दुखों का काम और सुखों का वर्णन अधिक है। वेदों के छंद और गाथाएँ मानव के आनंद के गीत हैं। वेद सत्यं शिवं सुंदरम् की व्याख्या करते हैं। इसकी भाषा संस्कृत है। भारतीय साहित्य और संस्कृति को समृद्ध बनाने में संस्कृत भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीयों का समस्त अर्जित ज्ञान, कौशल और अनुभव संस्कृत प्रणित ग्रंथों में समाहित है।

भारतीय संस्कृति में व्यवहृत आचार-विचारों पर वेदों की छाया देखी जा सकती है। यह संस्कृति सुसंस्कृत जीवन-निर्वाह सिखाती है। सदैव सच बोलना, अहिंसा, परोपकार पर बल देती है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में समाज की तत्कालीन व्यवस्था, मान्यताएँ, विश्वास, जादू-टोने, व्याधि, तंत्र-मंत्र, गीत, कथा, गाथाएँ, नाट्य, कलाएँ, कृषि कर्म, आदि देश काल परिस्थिति के अनुरूप वर्णित हैं, जो वैदिक संस्कृति को आध्यात्मिक व भौतिक रूप प्रदान करता है।

रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के क्लासिक आधार ग्रंथ हैं। रामायण विश्व का पहला महाकाव्य है और महाभारत पाँचवा वेद।

'अपने सुदीर्घ इतिहास में भारत के निवासियों ने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था एवं संस्कृति का विकास किया, जो अपने आप में मौलिक, अनूठी और विश्व की अन्य संस्कृतियों एवं समाज व्यवस्थाओं से भिन्न है। इस देश के महापुरुष, तीर्थस्थान, प्राचीन कलाकृतियाँ, धर्म, दर्शन और सामाजिक संस्थाएँ भारतीय समाज एवं संस्कृति के सजग प्रहरी रहे हैं। उन्होंने इस देश की संस्कृति को अजर-अमर बनाने में योग दिया है।''[2]

---

1. महामहोपाध्याय पं. खिस्ते नारायण जोशी - लोक संस्कृति का आगाम मार्ग - संमेलनपत्रिका - लोक संस्कृति अंक लेख से
2. भारतीय समाज एवं संस्कृति - एम. एल. गुप्ता, डी.डी. शर्मा, पृ. 18

'ज्ञान एवं प्रकाश में रत रहनेवाला देश' भारत की भौगोलिक सीमाएँ विशाल एवं समृद्ध हैं। यही कारण है इसकी संस्कृति विशाल, वैविध्यपूर्ण, व्यापक एवं समृद्धशाली है। भारत की भौगोलिक सीमाओं का परिचय विष्णुपुराण में मिलता है-

''उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेस्चैव दक्षिणम् ।
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्तति ।।''[1]

भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को निम्न रूप में देख सकते हैं - (1) हड़प्पाकालीन संस्कृति (2) वैदिक संस्कृति (3) जैन एवं बौद्ध संस्कृति (4) मौर्यकालीन संस्कृति (5) शुंग-सातवाहनकालीन संस्कृति (6) गुप्तकालीन संस्कृति (7) सल्तनतकालीन संस्कृति (8) मुगलकालीन संस्कृति (8) अर्वाचीन संस्कृति

इन विविध आयामों को छूते हुए भी भारतीय संस्कृति कभी छिन्न-भिन्न नहीं हुई, वरन् इन्हें स्व में समाहित कर और अधिक समृद्धशाली हुई है। भारतीय संस्कृति को बनाने में भौगोलिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक एकता की निर्णायक एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। हमारे धार्मिक ग्रंथों, यथा-वेदों, पुराणों, शास्त्रों, ब्राह्मण ग्रंथों, रामायण, महाभारत आदि में इस महान भारतीय संस्कृति का चित्रण हुआ, जिसका प्रत्येक भारतीय के जीवन पर अमिट प्रभाव है। यह विभिन्न जातियों तथा संप्रदायों के आचार-विचारों, विश्वासों और आध्यात्मिक समन्वय से बनी है। इसी भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) प्राचीनतम संस्कृति :

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक मानी जाती है। संसार की अन्य संस्कृतियों के मुकाबले भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन एवं श्रेष्ठ मानी जाती है। मिस्र, सीरिया, ईरान, बेबीलोनिया, रोम और चीन की संस्कृतियाँ भी संसार की पुरानी संस्कृतियों में से हैं परंतु इन पर भी भारतीय संस्कृति का प्रभाव व्यापक रूप से देखा जा सकता है। भारत में आज भी वैदिक परंपरा के रूप में उस संस्कृति का निर्वाह किया जाता है। हम आज भी अपना जीवन वैदिक धर्म एवं संस्कृति के अनुसार ढालते हैं। प्राचीन मूल्यों में परिवर्तन चाहे हुआ लेकिन मूल रूप में भारत के लोग इसी से जुड़े हैं। वे सांस्कृतिक तत्व ही आधुनिक संस्कृति के मूलाधार हैं। हमारे देश पर अनेक आक्रमण हुए, कितने ही उतार-चढ़ाव आए लेकिन हमारी संस्कृति कभी नष्ट नहीं हुई वरन् और अधिक परिष्कृत एवं परिमार्जित होती रही है।

(2) विश्व कल्याण की भावना से अभिभूत :

'सर्वभूतः हितेरताः' का मूल मंत्र भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार रहा है। यहाँ केवल मानव कल्याण, विश्व कल्याण ही नहीं अपितु जीव कल्याण के तत्व को स्वीकृत किया गया है। जिसका उल्लेख हमें निम्न श्लोक से मिलता है-

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पशयन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत् ।।''

---

1. विष्णु पुराण 11, 3:1

(3) धर्म परायणता :

भारतीय दर्शन में कभी भी हिंदु, मुसलमान, जैन या बौद्ध के रूप में धर्म का प्रयोग नहीं हुआ। धर्म का वास्तविक स्वरूप वही है, जिसे मनुष्य अपनाता है अथवा धारण करता है - 'धारयति इति धर्मः'। गीता में भगवान श्रीकृष्ण मानव के कर्तव्य को ही धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

''स्वकर्मणा तमर्भ्यचः सिद्धिं विन्दति मानवाः ।''

जब प्रत्येक कर्म को ही धर्म का स्वरूप दे दिया गया है, तब यह बात निश्चित है कि भारतीय संस्कृति पूर्णरूपेण धर्म-परायण संस्कृति है।

(4) सहिष्णुता :

भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक सहिष्णुता की रही है। यहाँ धर्म के नाम पर कभी संकीर्णता नहीं रही। भारत में जितने भी लोग, धर्म और संस्कृतियों का आगमन हुआ सभी को अपने में आत्मसात् कर लिया। आर्य, हूण, शक, मंगोल, चंगेज़, यूनानी, इस्लाम, मुगल, अंग्रेज आदि जितने भी आए सभी समा गए भारतीय विशाल संस्कृति में। उन्हें फलने-फूलने का भी अवसर दिया गया। एक विद्वान के विचार में - ''हमारे यहाँ समय-समय पर अनेक विदेशी संस्कृतियों का आगमन हुआ और सभी को फलने-फूलने का अवसर उपलब्ध रहा। यहाँ किसी भी संस्कृति का दमन नहीं किया गया और न ही किसी समूह पर संस्कृति थोपी गई।'' यह हमारी संस्कृति की सहिष्णुता का सबसे बड़ा उदाहरण है।

(5) समन्वय की भावना :

भारतीय संस्कृति में समन्वय की भावना प्रबल है। विरोधी तत्वों, विचारों, संप्रदायों, घटकों तथा व्यक्तियों के बीच समन्वय की भावना रख भारतीय संस्कृति ने राष्ट्र और समाज को खंड-खंड होने से बचा लिया। इसी समन्वय की महान शक्ति के बल पर अद्यतन भारतीय संस्कृति विद्यमान है।

(6) कर्म की प्रधानताः

भारतीय के विकास क्रम में केवल भावनाओं की और विशालता पर ही ज़ोर नहीं दिया गया अपितु उसी के अनुरूप कर्म की महत्ता स्वीकार की गई है। कथनी और करनी में सामंजस्य पर बल दिया गया है। सत्कर्म पर विशेष बल दिया गया। इस संबंध में यह भी स्वीकार किया गया कि जो जैसा कर्म करेगा वैसा ही फल पायेगा। जिसका उल्लेख गीता में भगवान श्रीकृष्ण करते हैं:

''स्वे स्वे कर्मण्यमिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छुणु ।''

कर्म के परिणाम पर बल देते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले को ऊँची योनि में जन्म मिलता है, जबकि बुरे कर्म करने पर निम्न योनि में जन्म लेकर नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं अर्थात् पुनर्जन्म पर भी बल दिया गया है।

(7) वर्णाश्रम व्यवस्था :

भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम व्यवस्था पर भी बल दिया गया है। समाज चार वर्णों में विभाजित था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

ऋग्वेद के श्लोक के अनुसार-

''ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहुराजन्यः कृतः।
ऊरु दस्य यद्वेश्यः पदभ्यां शूद्रोऽडायतः ॥''

अर्थात् ब्राह्मण मानव शरीर के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य पेट से तथा शूद्र पैरों की उपमाओं से परिचित कराए गए। ब्राह्मण को बुद्धि एवं शिक्षा का प्रतीक, क्षत्रियों को शक्ति का प्रतीक, वैश्यों को व्यापार एवं भरण-पोषण तथा शूद्रों को संपूर्ण समाज की सेवा का भार सौंपा गया।

(8) आश्रम व्यवस्थाः

भारतीय दर्शन में मानव आयु 100 वर्ष स्वीकृत कर चारों भाग में विभाजित की गई। जो इस प्रकार है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यस्थ आश्रम। प्रत्येक को 25 वर्ष समय नियत किया गया। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन, गृहस्थाश्रम में गृहस्थ सेवा, वानप्रस्थ में समाज एवं परिवार से परे साधना को महत्व दिया गया वहीं संन्यास आश्रम में सभी बंधनों से छूटकर जीवन का आधार साधना को स्वीकार उसे ही जीवन का अंतिम लक्ष्य माना गया।

(9) संस्कारयुक्त जीवनः

यहाँ भारतीय संस्कृति में यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य जीवन संस्कारों का पुंज है। इन संस्कारों की संख्या 16 स्वीकार की गई है तथा मानव जीवन षोडस् संस्कारयुक्त माना गया है। जिनका उद्देश्य अशुभ शक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति को बचाना, सांसारिक समृद्धि प्राप्त करना इत्यादि रहे। हिंदु धर्म के चौदह संस्कार इस प्रकार रहे - गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, समावर्त्तन, विवाह, अंत्येष्टि। अब इनमें से आजम्न से जुड़े, विवाह और अंत्येष्टि ही प्रमुख रह गये हैं।

(10) नारी का सम्मानः

भारतीय संस्कृति में नारी को बहुत सम्मानीय स्थान दिया गया। वह माता, बहन, पत्नी और सखी रूप में प्रेरणास्त्रोत बनी रही है।

'यत्र नारियस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्रः देवताः।'

सती सीता, सावित्री, दमयंती, पद्मिनी, अहिल्याबाई, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जैसी महान नारियों के उदाहरण हैं जिन्होंने भारत का गौरव बढ़ाया।

(11) शरणागत वत्सलता :

भारतीय संस्कृति का संदेश है कि शरण में आए हुए की रक्षा करना।

(12) अतिथि देवो भव :

माता-पिता और गुरु के बाद अतिथि को देव स्वरूप में ग्रहण किया जाता है।

'देव-पितृ-कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। यान् यनवद्यानि कर्माणि। तातिसेवितव्यानिनो इतराणि यान् यस्माकँ सुचरितानि। ताति त्वयोपास्यानि।''

एक कहावत के अनुसार - ''घरे आयौ माँ जायौ बराबर हुवै।''

(13) ऋण का भावः

हमारी संस्कृति में व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण माने गए हैं जिन्हें चुकाना आवश्यक है। ये हैं - देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण और भूत ऋण। इन्हें इसलिए स्वीकारा गया ताकि व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करे।

(14) अहिंसा परमो धर्मः

भारतीय संस्कृति में अहिंसा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। हिंसा को किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं किया गया चाहे वह सूक्ष्म रूप में हो या व्यापक रूप में।

(15) विविधता में एकता :

भारत एक विशाल क्षेत्रफल वाला देश है, अतः यहाँ हज़ारों विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। जो धर्म, जाति, प्रजाति, संप्रदाय, भाषा, संस्कृति, राजनैतिक द्वष्टि से परिलक्षित होती है। फिर भी भारतीय संस्कृति में इन सभी विभिन्नताओं के होते हुए भी उसमें एकता बनाए रखी है।

इन सभी उपरोक्त विशेषताओं के बलबूते पर भारत युगों-युगों से विश्वगुरु रहा है और वैश्विक इतिहास में अपनी विशिष्ट अस्मिता से विश्व व्योम मंडल को प्रकाशित कर रहा है।

*****

लोक संस्कृति

भारत में प्रायः दो प्रकार की संस्कृति की व्याख्या की जाती रही है, एक प्राचीन 'वैदिक' / 'भारतीय' संस्कृति जिसकी विस्तृत चर्चा पहले की गई तथा दूसरी 'लोक संस्कृति'। वेदों की व्याख्या में टीकाकारों ने एक मत से स्वीकारा है कि 'लोकेच वेदेच' जो लोक में है, वही वेद में है। अर्थात् वेदों से पूर्व लोक में सब बातें मौजूद थीं, जिन्हें वेदों ने छन्दबद्ध किया है। लोक संस्कृति वैदिक संस्कृति से बहुत पहले लोक में विद्यमान थी अतः लोक संस्कृति के उन पारंपरिक तत्वों का वैदिक संस्कृति में मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वेदों से पूर्व भारत में एक समृद्ध लोक संस्कृति मौजूद थी, जिसका वजूद मौखिक था। इसी लोक संस्कृति के उज्जवल तत्वों से वेदों की उत्पत्ति हुई है। वैदिक संस्कृति के विकसित होने पर भी लोक संस्कृति की धारा समाज में निरंतर बहती रही। जिसे उस समय तांत्रिक संस्कृति कहा जाता था। जिसमें ऊँच-नीच का अभेद था। लोक संस्कृति की सोच और क्षेत्र उदार, व्यापक और उच्च था। उसमें शूद्र और स्त्रियों के समान अवसर विद्यमान थे। समाज में शक्तिपूजा का प्रचलन था। स्त्री को शक्ति रूप माना जाता था। जो आगमन वेदों में भी उपलब्ध है, वे लोक संस्कृति में पहले से प्रतिष्ठित हुए हैं। आगम शिव-पार्वती के मिथ से जुड़ा है जो लोक की ही व्याख्या है-

''आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मंत्र च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्चते।''

जो तत्व शिवजी के पंचमुखों से निकलकर भगवती पार्वतीजी के कानों में आ गया और भगवान वासुदेवने जिसे मान लिया वही आगम (लोक) है। शिव ने स्वयं अपने मुख से आगम का रहस्य बताया और पार्वती ने उसे अपने कानों से श्रवण (श्रुति) कर सदैव स्मृति में रख लिया। निगमागम भारतीय संस्कृति का मूलाधार है।[1]

लोक संस्कृति उस समय की सामान्य जनता के जीवन की मुख्य धारा बन गई थी। उसमें न शिक्षा के बंधन थे, न वर्ग के। बहुजन हिताय की बात का ध्यान रखा। मनुष्य की महत्ता सर्वोपरि प्रतिपादित की।

लोक संस्कृति :

लोक एक व्यापक संज्ञा है। जिसमें प्राणी मात्र की भौतिक एवं आत्मिक सत्ता का भी साम्राज्य होता है। धरती से लेकर आसमान तक फैले हुए विस्तृत फलक को लोक की संज्ञा से अभिहित किया जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य धरती पर ही नहीं आसमान के आरपार तक जाने, देख लेने की शक्ति रखता है। मनुष्य के अंदर और बाहर जो भी है वह सब कुछ लोक में है। मानव अंदर की अभिव्यक्तियों को बाहर लोक में निरुपित करता है और उसे संस्कृति की संज्ञा देता है। लोक में संस्कृति का उद्भव और विकास होता है, संस्कृति की धुरी मनुष्य है और मनुष्य से अलग कोई लोक नहीं है। इसलिए समस्त कलाएँ, प्रविधियाँ, अभिकल्पनाएँ, योजनाएँ, समस्त संस्कृतियाँ मनुष्य लोक की ही रचनाएँ हैं।

'लोक शब्द अत्यंत व्यापक और सम है, यह ब्रह्म की ही तरह अनंत अक्षर और असीम है, जीवन का प्रतीक और जन का पर्याय है। 'लोक' की सीमा केवल ग्राम या साधारण जनता तक ही नहीं है, ऐसा संकीर्ण

---

1. महामहोपाध्याय पं. खिस्ते नारायण शास्त्री - लोक संस्कृति का आगम मार्ग, संमेलन पत्रिका लोकसंस्कृति अंक, पृ. 38

अर्थ तो बहुत बड़ी साहित्यिक ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक भूल का द्योतक है, समस्त चराचर मात्र में 'लोक' की समीचीन अलंकृति ही परम उपादेय और मांगलिक है।''[1]

लोक के लिए अंग्रेजी में 'फॉक' (Folk) शब्द का प्रयोग किया जाता है। डॉ. सत्येन्द्र ने लोक की व्याख्या की है - 'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।''

मेरे मत के अनुसार हम जो कुछ भी हृदय या मन से सोचते हैं, वचन से बोलते हैं और कर्म करते हैं, वह लोक की अभिव्यक्ति है। लोक इस गोचर-अगोचर, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, सामाजिक और आत्मिक विशाल संसार को प्रकट करने में सक्षम होता है, जो मानव की किस्मत में है, वह मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करने की कोशिश करता है। जो इतिहास की छोटी से छोटी घटनाओं, उतार-चढ़ाव को अपने आप में समेटने में समर्थ होता है।

लोक के भीतर और बाहर मनुष्य और उसके द्वारा बनाया भौतिक और आत्मिक संवेदनशील वातावरण सदैव रहता है जिसमें मनुष्य अपनी स्वप्न स्मृति और क्रियाकलापों क सहारे समाज की गतिविधियों को संचालित करता है। बिना मानव समुदाय और समाज के लोक की कल्पना संभव नहीं है, जो लोक के मूलाधार हैं। समाज के लोक व्यवहार में संस्कृति के वास्तविक दर्शन होते हैं। हजारों गाँव की संस्कृति अलग हो सकती है, परंतु सारे राष्ट्र की एक ही संस्कृति मानी जाती है जिसमें देश की आंतरिक अनेक संस्कृतियों का समावेश होता है, जिसका मुख्य आधार लोक है।

लोक मानव के हजारों विश्वासों, रीतियों, रिवाजों, रुढ़ियों, व्यवहारों और संकल्पों से बनता है। लोक अनंत और असीम है। लोक धरती से आसमान तक फैला है।

लोक शब्द देखने के अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। अवलोकन शब्द इसी से बना है। लोक का अर्थ है देखनेवाला। वेदव्यास ने लोक को यथार्थ रूप से देखने वाले व्यक्ति को व्यक्ति माना है - प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः। जो लोक को स्वयं अपनी आँखों से देखता है, वही व्यक्ति लोक को समझ सकता है। लोक शब्द अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों अर्थों में किया जाता है। पाणिनी ने अपने अष्टध्यायी में 'लोक' और 'सर्वलोक' शब्दों का उल्लेख किया है।

लोक समूचे जीव, प्रकृति, जीवन, स्वर्ग-नर्क, कल्पना-यथार्थ का नाम है। लोक सर्वत्र है। जन साधारण के लिए भी लोक शब्द प्रचलित है। लोक के केन्द्र में मनुष्य है। मनुष्य के द्वारा रचित सभी कृतियाँ लोक की धरोहर हैं।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने तो कहा - ''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है।''[2]

लोक के संबंध में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है - ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई समूची जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।''[3]

1. श्री रामलाल - भारतीय लोकसंस्कृति की आध्यात्मिक भूमि - संमेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ. 86 से
2. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल - लोक का प्रत्यक्ष दर्शन - संमेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ. 67-68 से सारांश में
3. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

लोक जीवन की परिधि है। मानव जीवन के प्रारंभिक संघर्षों की जीवन्त धारा इसी लोक से निकलकर आज तक बह रही है, प्रथम मानव का जन्म हुआ लोक नींव पड़ी। स्त्री-पुरुष लोक की धुरी के दो पहिए हैं। दोनों ने मिलकर लोक बनाया। मानव ही लोक का सर्जक है, प्रकृति का उपभोक्ता। लोक शब्द व्यापक और अर्थवान है। लोक की शक्ति से सभी परिचित हैं जो अपार है। ''लोक में हर चीज संभव है।'' लोक बहुत ही बड़ी शक्ति है। लोक ताकत है। जिसमें जन-जन की सामूहिक शक्ति निहित होती है।

विवाह एक ऐसी संस्था है जिसने लोक संस्कृति के निर्माण में व्यापक भूमिका निभाई है। मानव के उत्साह का चरमोत्कर्ष विवाह में ही देखा जाता है। संस्कृति के स्वरूप निर्माण में विवाह संस्कार ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

''लोक संस्कृति विकासशील लोक संस्कार पर आश्रित है और संस्कार परंपरागत होकर भी रुढ़ि का पर्याय नहीं। वह व्यक्तिगत संस्कार से किंचित भिन्न है, जो व्यक्ति की भाँति जन्म लेकर मरता नहीं, अपितु विकसित होता रहता है। वह गतिशील, वृद्धिशील और प्रसार प्रवण है। आनंद उसका स्त्रोत है और मंगल भावना प्राण। परंतु वह आनंद एक व्यक्ति मानस का न होकर लोक मानस का होता है। मंगल भावना व्यक्ति के लिए ही न होकर लोक के लिए होती है।''[1]

संस्कृति का मूल उद्देश्य मनुष्य के आंतरिक गुणों का विकास करना है। विभिन्न संस्कारों के माध्यम से उसकी प्रतिभा और योग्यता को उजागर करना है। धीरे-धीरे मानव की आत्मा संस्कृति के रंग में रंग जाती है। अतएव जहाँ-जहाँ तक मनुष्य की बुद्धि और कल्पना का विस्तार है वहाँ-वहाँ एक लोक की सीमा मानी जा सकती है। सृष्टि की उत्पत्ति से लगाकर प्रलय तक लोक रहेगा। जब तक मनुष्य रहेगा तब तक लोक एवं संस्कृति रहेगी। अजर अमर रूप में।

लोक संस्कृति को उजागर करते तत्त्व

लोक संस्कृति को अभिव्यक्त करने वाले तत्व जीवन, साहित्य और कला परंपरा में निहित होते हैं। संस्कृति के ये आयाम संस्कृति के स्वरूप निर्माण में सहायक होते हैं और उसके संवाहक भी बनते हैं। प्रथा, परंपरा, रीति-रिवाज, संस्कार, लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, मिथकथा, मिथक, लोकचित्र, लोकोक्ति, पहेली, कहावत, ढकोसले, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोक संगीत, लोकवाद्य, लोक विश्वास, देवता, लोक व्यवहार, लोकगीत आदि को परिभाषित करने से संस्कृति के मूल स्वरूप को समझने में मदद मिलेगी क्योंकि ये तत्व ही आधार संस्कृति का रूप भी खड़ा करते हैं। इन तत्वों (मूलाधारों) में लोक संस्कृति का वास होता है अतः यदि कोई संस्कृति का संपूर्ण अध्ययन या अध्यापन करना चाहे तो इन तत्वों को देखना प्रथम जरुरत है।

जिस संस्कृति के मूलाधार तत्व जड़ हो जायें तो उस संस्कृति का अंत समझो निकट है। जितने हमारे मूलाधार तत्व जीवंत होंगे उतनी हमारी संस्कृति सचेत, समृद्धशाली और समय सापेक्ष रहेगी। अनेकों संस्कृतियाँ बनीं व मिटीं परंतु हमारी लोक संस्कृति की अपरोक्ष अजस्र धारा निरंतर प्रवाहित होती रहती है,

1. चतुर्वेदी श्री नर्मदेश्वर - लोकसंस्कृति आत्मा - संमेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ. 119 से उद्धृत

क्योंकि लोक संस्कृति के वे अमर तत्व संपूर्ण रूप से जीवन से जुड़े रहते हैं।

किसी भी अँचल, देश की संस्कृति विशेषकर उसकी जीवन शैली के अतिरिक्त सबसे अधिक कला और वाचिक परंपरा में अभिव्यक्त होती है। संस्कृति में वे सभी तत्व मौजूद रहते हैं, जो मनुष्य को संवेदनशील बनाकर जगत को सर्वश्रेष्ठ कृति बनाते हैं। तो आइए लोक संस्कृति के उन महानतम तत्वों का अध्ययन करें जो निम्न रूप में हैं-

(1) लोक नाट्य
(2) लोक नृत्य
(3) लोक संगीत
(4) लोक गीत
(5) लोक कहानी
(6) प्रकीर्ण साहित्य

इन तत्वों के अध्ययन से हम बारी-बारी से देखेंगे कि वे किस तरह मानव जीवन व लोक संस्कृति को प्रभावित करते हैं।

(1) लोक नाट्य :

लोक में अपने मनोरंजन के मौलिक साधन एवं परंपराएँ हैं। कई लोक विधाएँ अपनी परंपरा में अनुष्ठान के अवसरों की पूर्ति कर लेती है। लोक जीवन में लोकनाट्य के महत्व को झुठलाया या नकारा नहीं जा सकता। लोक की अपनी पारंपरिक रंग दृष्टि का विकास धीरे-धीरे हुआ है। लोक समुदायों ने अपनी आंचलिक रंगकर्म परंपरा का विकास किया है। परिणामस्वरूप हर अंचल में अपने-अपने ढंग की रंग शैलियाँ बनती चली गईं जिन्हें हम लोकनाट्य के रूप में पहचानते हैं। वे नाचा, माच, स्वांग, गम्मत, करियाला, ख्याल, सांग, विदेसिया, जात्रा, तमाशा, सिरमौर, भगत नौटंकी, भवाई, यक्षगान, रासलीला, रामलीला आदि के रूप में भारतभर में लंबी और समृद्ध परंपरा में दिखाई देते हैं।

वन्य जीवन की आदिम अभिव्यक्तियाँ उनके नृत्य नाट्य में सहजता से देखी जा सकती हैं, मिट्टी या काष्ठ मुखौटे लगाकर नृत्य और नाट्य परंपरा इन समूहों में प्रायः मिलती है। आदिवासियों के आदिम नाट्यों से प्रेरित होकर लोकनाट्यों की संरचना हुई है। लोककलाओं का मूल आदिम कलाएँ ही हैं। पारंपरिक संगीत, नृत्य अभिनय और कथानक से मिलकर लोकनाट्य की सर्जना होती है। जीवन के आसपास घटने वाली हर घटना लोकनाट्य का विषय हो सकती है। इसकी विषयवस्तु विविध होती है। लोकनाट्य तो साहित्य का शब्द है लेकिन खोल या ख्याल जैसे शब्द का प्रचलन लोक में रहा है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने अपने ग्रंथ में लोकनाट्यों का जिक्र किया है। लोकनाट्य लोकजीवन का संपूर्ण प्रतिबिंब हैं, जो सामाजिक अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा साधन है।

लोकनाट्यों में लोक रंगमंच की रचना अत्यंत सरल होती है। गाँव का चौराहा या चौपाल जहाँ ओटलों, गलियों, सड़क पर लोग खुले में अपनी सुविधा से बैठ पाएँ वही लोकनाट्य का मंच बन जाता है। बीच में खंभा गाड़कर उस पर रस्सियों से सफेद चद्दरें बांध लीं, बस यही मंच चंदोवा बन गया। लोक रंगमंच

पर पर्दे की कोई आड़ नहीं होती। पात्र पास के किसी भी घर से मेक-अप कर आ जाते हैं। सामग्री शृंगार की देहातीज होती है। सबकुछ स्वाभाविक होता है। कलाकार भी गाँव के पारंपरिक अभिनेता होते हैं जिन्हें अपने काम में दक्षता हासिल होती है। सभी पात्र जैसे मृदंग बजानेवाला, विदूषक या स्त्री पात्र करनेवाला सभी निश्चित होते हैं।

लोकनाट्य कर्म एक सामूहिक सहभागिता होती है । इसमें पूरा गाँव सक्रिय हिस्सा निभाता है। लोकनाट्य में स्त्री पात्र प्रायः पुरुष ही परंपरा से निभाते हैं। अपवाद के तौर पर नौटंकी और तमाशा में शुरु से महिलाएँ अभिनय करती आई हैं।

आँचलिक रुढ़ि लोकनाट्य की मौलिक पहचान बनाती है। हर अँचल के पारंपरिक लोकनाट्यों की अपनी शैली होती है। सारे लोकनाट्य किसी न किसी अनुष्ठन और पर्व से जुड़े होते हैं। इसी बहाने समाज की विशेषताओं और विसंगतियों को उजागर करने का इससे अच्छा मौका कदापि नहीं हो सकता।

लोकनाट्यों में विषयवस्तु को उतना महत्व नहीं दिया जाता क्योंकि इसकी सामग्री लिखित नहीं होती। वाचिक परंपरा के अनुसार विषय आपस में बातचीत करके तय कर ली जाती है। सबी कलाकारों की खुली भागीदारी होती है। एक जगह श्री देवीलाल सामर ने ठीक लिखा है - ''असली लोकनाट्य लिखे ही नहीं जाते वे रचे जाते हैं।'' वह तो लोक की स्वाभाविक रचना है।

लोकनाट्यों का स्वभाव और भाषा सामयिक होती है। लिखी-लिखाई विषयवस्तु न होने के कारण सारे पात्र भाषा के जरिये नाट्य के केन्द्रिय भाव तक पहुँचने में स्वतंत्र होते हैं। विषय पात्रों के दिमाग की तत्काल उपज होते हैं। संगीत, नृत्य, अभिनय और संवाद मिलकर लोकनाट्य बनता है।

लोकनाट्यों का प्रारंभ पारंपरिक अनुष्ठानिक रीतियों से होता है और अन्त सामूहिक गायन, वादन और नर्तन से होता है। मध्य में भी स्वांग या नकल में कड़वा मीठा कहा-सुना दिया जाता है, उसका अंत भी गीत-संगीत की अनुगूंज में होता है। यह लोकनाट्य की चरम प्राप्ति होती है।

लोकनाट्यों का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ समाज की अच्छाई और बुराई को उजागर करना होता है। लोकानुरंजन लोकनाट्यों की पहली शर्त हो सकती है परंतु हास्य के द्वारा उनमें तिलमिला देनेवाली या चुभनेवाली व्यंगात्मकता भी होती है। लोकनाट्य अपने पारंपरिक विद्रुप, अभिनय से गुदगुदाने के जहाँ कार्य करते हैं वहीं तीखी मार भी करते हैं। सब हँसी में होता है जिसकी चपेट में राजा-रंक सभी आ जाते हैं। अन्य विधाओं की तुलना में जिसे सुनाना है, उसे सब कुछ कह देने की सुविधा और स्वतंत्रता लोकनाट्य विधा में सबसे अधिक है और यही लोकनाट्य की सबसे बड़ी ताकत है।

(2) लोकनृत्यः

लोक समाज के उदय के साथ लोकनृत्य का भी अभ्युदय हुआ। लोक समाजों में नृत्य परंपरा का विकास आदिम समूह के नृत्यों से हुआ है। लोक संस्कृति ने आदिम संस्कृति के कई जीवंत तत्व ग्रहण किए, उनमें नृत्य परंपरा भी एक है। लोक में किए जाने वाले नृत्य को लोकनृत्य कहते हैं। लोक समूह या समाज

कहलाता है, लोक समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तेली, चर्मकार, सुतार, केवट, यादव आदि लोकजातियाँ गिनी जा सकती हैं। इनके अपने अलग-अलग और सार्वभौमिक नृत्य हैं।

लोकनृत्य दो तरह के होते हैं, एक जाति में किया जाने वाला नृत्य और कई जातियों में किया जाने वाला नृत्य। प्रत्येक जाति में कोई न कोई पारंपरिक नृत्य की परिपाटी होती है। ऐसे नृत्य एक जातीय नृत्य कहे जा सकते हैं जो दूसरी जाति में नहीं किये जाते। जैसे पंथी सतनामियों का नाच है, काठी भगत का नाच है और कानड़ा धोबियों का नाच है। कुछ नृत्य ऐसे हैं जो समान रूप से सभी जातियों में किए जाते हैं, जैसे गणगौर, मटकी बधाई, डंडा नाच आदि।

जातियों की भिन्नता अनेक लोकनृत्यों को जन्म देती है। भारत में विविध जातियों का सर्वाधिक फैलाव है, इसलिए उसके हर अँचल में कई प्रकार के लोकनृत्य वहाँ की संस्कृति के अनुरूप देखे जा सकते हैं।

विभिन्न गुहाचित्र को देखकर प्रारंभिक मानव के उस समय को पढ़ा जा सकता है। नृत्य की मुद्राएँ उस समय के शेष चिन्ह हैं। पर्व-त्यौहार, अनुष्ठान से जुड़े लोकनृत्य सांस्कृति इतिहास की व्याख्या करते हैं।

लोकनृत्यों में नृत्यमुद्राओं के साथ गीतों के शब्द और धुनें भी समय की प्रतीक होती हैं। लोकनृत्यों की वेशभूषा और श्रृंगार भी समय की अमिट छाप होती है। लोकनृत्य में गीत, धुन, वाद्य, लयताल, वेशभूषा, श्रृंगार आदि किसी न किसी संस्कृति के परिचायक होते हैं।

कुछ लोकनृत्य लंबी-लंबी गाथाओं पर आधारित होते हैं। विभिन्न धुनों, टेकों, लयतालों और विषयों के आधार पर लोकनृत्य की प्रवृत्ति और गति का सृजन होता है। लोकनृत्यों में सामाजिक यथार्थ की भी अभिव्यक्ति होती है। वीर नायक की शौर्यगाथा पर किया जानेवाला नृत्य शौर्य प्रधान होगा, विरह और श्रृंगार में नृत्य की प्रवृत्ति प्रसंगानुसार होगी। पारंपरिक नृत्य का मतलब उसके वाद्य, ताल, लयगीत, मुद्राएँ, अवसर, वेशभूषा आदि पीढ़ियों से चले आ रहे हैं, जिस नृत्य की एक निश्चित लोक परिभाषा बन गई हो, वही लोकनृत्य है।

भारत एक विविध प्रांतीय, आँचलिक देश है। अतः प्रत्येक अँचल में नृत्य का एक मूल स्वर और स्वरूप होता है। वह पुरुषपरक, स्त्रीपरक या दोनों का मिला-जुला रूप भी होता है। जैसे बुंदेलखंड के राई लोकनृत्य में नर्तकी बेड़नियाँ नृत्य में अपना वर्चस्व बनाये रखती है। नृत्य करना बेड़नियों का पारंपरिक कर्म है। पारंपरिक लोकनृत्य प्रायः पर्व त्यौहार, अनुष्ठान और सामाजिक कार्य से जुड़े होते हैं। लोक में एक नृत्य की संभावना बहुत कम होती है, फिर भी कथा गायन जैसी विधा में एकल नृत्य हो सकता है।

लोकनृत्य जातीय संस्कृति के संवाहक होते हैं। लोकनृत्यों की एक झलक देखकर पहचाना जा सकता है कि यह किस जाति समूह का नृत्य है। लोकनृत्य उसके संगीत से भी पहचाने जाते हैं। लोकनृत्य संरचनाओं के आधार पर भी अपनी पहचान रखते हैं। जैसे मणिपुरी रास अपनी कोमलतम संरचनाओं से जाना जाता है।

लोकनृत्य किसी भी देश, संस्कृति की महानतम कला के जीवंत दस्तावेज हैं। लोकनृत्य में किसी भी राष्ट्र की आत्मा का निवास होता है। यदि किसी देश की संस्कृति को जानना हो तो उस देश के लोकनृत्य देख

लीजिए वही काफी है। लोकनृत्य ऐसी सार्वभौमिक अभिव्यक्ति है, जिसे समझने के लिए सिर्फ मन की पारंपरिक आँख चाहिए।

आख्यानपरक लोकनृत्यों में नृत्याभिनय की अनिवार्यता स्वीकार की जाती है जबकि स्वतंत्र स्फुट लोकनृत्यों में भावलालित्य पर बल दिया जाता है।

लोककथा का कोई निश्चित व्याकरण नहीं होता। लोकनर्तक चाहे जहाँ अपनी स्वेच्छा के अनुसार मुद्राएँ बदल सकता है। फिर भी लोकनृत्य के पारंपरिक स्वरूप तो निश्चित होते हैं, उसी आधार पर उनकी सुनिश्चित पहचान होती है।

लोकनृत्यों में निरंतर परिवर्तन और परिवर्द्धन होता है। समसामयिक तत्वों को लोकनृत्य अपने मे आत्मसात करता आया है, यही लोकनृत्य की जीवनी शक्ति भी है। लोकनृत्य कभी भी समाप्त नहीं हो सकते, जब तक लोक है, तब तक लोकनृत्य भी है। स्व के आनंद को अभिव्यक्त करने की यह विधा सदैव हर परिस्थिति में विद्यमान रहेगी। यदि कहीं स्वर्ग है तो वह नृत्यों में मिल सकता है।

(3) लोक संगीत :

लोक संगीत लोक की वाचिक परंपरा का एक अंग है। लोक में जीवन का कोई भी अवसर ऐसा नहीं होता जब कोई गीत गाया जाता हो। गीतों में लोकस्वर बसता है और यही मूलस्वर है जो लोक संगीत को जन्म देता है। लोक धुनें लोक संगीत का स्वरूप निर्धारित करती हैं। लोक के संगीत की प्रवृत्ति सहज है।लोक संगीत की उत्पत्ति नदियों की सरसराहट, झरनों की झरझर, बादलों की गड़गड़ाहट, गाय के रंभाने, सिंह के दहाड़ने, कोयल की कुहुक, मुर्गे की बांग आदि मूल स्वरों से हुई है।

लोक संगीत का कोई निश्चित शास्त्र नहीं होता है। हर अँचल में अपने भूगोल, इतिहास और संस्कृति के अनुरूप स्वतंत्र स्वर फूटे और लोकसंगीत की सृष्टि हो गई।

शास्त्रीय संगीत का मूल लोक संगीत है जिसकी ओर कई गायक चिंतकों का ध्यान गया है। आज बड़े-बड़े शास्त्रीय संगीतज्ञ सात सूरों के दायरे में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाते हैं परंतु लोकसंगीतकार दो-चार स्वर और ताल में वह दिखा देते हैं जो बड़े-बड़े गायक नहीं दिखा पाते।

लोक संगीत में पारंपरिक दक्षता का बड़ा महत्व है। कोई महिला व पुरुष बचपन से अपने बुजुर्गों की संगत में गाना-बजाना सीखता है जो किशोरावस्था तक पारंगत हो जाता है। यह परंपरा जारी रहते हुए एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को यह दाय सौंपती चलती, लोक परंपरा को आगे बढ़ाती रहती है।

लोक संगीत के स्वर अपने संस्कृति के संवाहक होते हैं। उनमें समाज और संस्कृति को जोड़ने की क्षमता होती है। लोक संगीत में इतिहास, संस्कृति और कला के सभी आयाम सुरक्षित व पल्लवित होते हैं। लोक संगीत आदि मनुष्य के मस्तिष्क के चरम आनंद की अनुभूति का नाम है।

(4) लोक गीत :

लोक वाचिक या मौखिक परंपरा में पर्व और संस्कार से संबंधित गीत जितने अधिक मात्रा और व्यापक रूप में गाये जाते हैं, उतने कोई भी अन्य गीत नहीं गाये जाते हैं। लोक साहित्य के खजाने में लोकगीतों की संख्या अनगिनत है। मौखिक रूप से गाये जाने वाले इन लोकगीतों का स्थान वाचिक परंपरा में सर्वोच्च व महत्वपूर्ण है। लोकगीत लोक संस्कृति को अभिव्यक्त करने वाला सशक्त तत्व है। ये समग्र संस्कृति का संवाहक है। लोकगीत किसी जाति, समूह और देश की लोक संस्कृति के परिचायक हैं। मनुष्य जीवन के हर एक प्रसंग, जन्म-मरण, मंगनी-विवाह, जनेऊ-मुंडन, पर्व-त्यौहार, हास-परिहास, सुख-दुख, लोक व्यवहार प्रथाएँ, रीति-रिवाज, धर्म-कर्म, अध्यात्म, अतीत और वर्तमान के सारे संस्कार लोकगीतों में सहज रूप से मिलते हैं।

लोक में गीत के माध्यम से हृदय की बात कहने की परिपाटी अधिक प्रिय रही है। गाना मन की सहज प्रवृत्ति है, इसलिए लोकगीत मनुष्य के हृदय का स्पंदन है।

भारत एक विशाल भूखंड वाला देश है जो अनेक प्रांतों, राज्यों में विभक्त है। हर प्रांत, राज्य, अँचल के लोगों के अपने स्वानंद के लोकगीत हैं। जिसमें हमें विविधता देखने को मिलती है। जो अपनी प्रादेशिक संस्कृति को बखूबी उजागर करते हैं। भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं ये लोकगीत।

लोकगीत जीवन का स्फुट काव्य है। ये किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं वरन् सामूहिक रचनाशीलता का परिणाम हैं। लोकगीतों में सबसे महत्त्वपूर्ण जीवन की मूल सत्यानूभूति की अभिव्यक्ति का सहज साक्षात्कार होता है। जीवन को अखंडित रूप से देखने की दृष्टि लोकगीतों में जबर्दस्त होती है। दो पंक्ति के गीत को चाहे जितनी देर गाया जा सकता है। गीत का मतलब गेयता से है। फिर भी लोकगीतों में काव्य गुणों को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता। ये काव्यगुण ही लोकगीतों की प्रमुख विशेषता है।

लोकगीत लोककंठ की धरोहर है। एक कंठ से दूसरे कंठ, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचने वाले लोकगीत शब्द और स्वर के दोहराव से संचरित होते हैं। जो उसकी विशेषता है जिसके कारण नयी पीढ़ी सरलता से अपनी स्मृति में गीतों को ग्रहण कर सकती है।

लोकगीतों में व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों को कोई स्थान नहीं होता। इनमें समष्टिगत अभिव्यक्ति होती है। एक लोकगीत पीढ़ियों के खरे अनुभव से तपकर बनता है, तभी तो उनकी मार्मिकता, काव्यात्मकता, रसोद्रेकता, संगीतात्मकता अधिक सरल, स्पष्ट और व्यापक होती है।

आजकल स्वयं की रचनाओं को पारंपरिक लोकधुनों में ढालकर लोकगीतों का नाम देकर गाये जाने की प्रवृत्ति पनप रही है। प्राचीन परंपरागत लोकगीतों की भावभूमि जितनी उच्च, उदार और व्यापक होती है, उतनी किसी तुकबंदी में कहाँ से मिल सकती है। आज हमारे अमूल्य पारंपरिक लोकगीतों को उनके मूल रूप और स्वर मे सहेजकर रखना हमारा परम उत्तरदायित्व होना चाहिए, वर्ना लोकगीतों की अस्खलित रसगंगा सूखती जा रही है।

(5) लोक कहानी:

समग्र संसार में मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी है, जिसे वाणी और विवेक का वरदान मिला है। वह प्रारंभ से ही कल्पनालोक और स्वप्नलोक में विचरण करने का आदी रहा है। जब मानव ने संकेत, बोली और भाषा का आविष्कार किया तो अनेक कथाएँ गूँथने लगा जिसमें जीवन की तलाश की अभिव्यक्ति थी। यही प्रारंभिक उच्छवास लोक कथा के रूप में विकसित हुए।

लोक कथाएँ हमारी संस्कृति की संवाहक होती हैं, इनके अभिप्रायों में संस्कृति के विभिन्न आयाम निहित होते हैं। लोककथा मनुष्य से न बाहर होती है और न वह किसी संस्कृति से रहित होती है। लोककथाएँ अपने अंदर तत्कालीन संस्कृति के सभी तत्वों को आत्मसात करती चलती है। लोककथा अपनी आँचलिक विशेषताओं के कारण अपनी पृथक् पहचान स्थापित करने में सक्षम होती है।

वाचिक परंपरा की बहुमूल्य धरोहर हमारी लोककथाएँ एक ओष्ठ से दूसरे ओष्ठ, एक कंठ से दूसरे कंठ, एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक पहुँच जाती है। जब एक बेटी का ब्याह होता है तो वह वहाँ अपनी दादी, नानी से सुनी कहानियों का अक्षय भंडार उस नयी जगह में ले जाती है और आगे आनेवाली पीढ़ी को वह देगी। इस तरह लोककथाएँ अक्षुण्ण रहती हैं। लोककथाएँ जहाँ पहुँचती हैं, वे वहाँ की हो जाती हैं, इसलिए लोककथाओं का संसार व्यापक, समावेशी और पारदर्शी है।

लोक कथा या कहानियों का मूल उद्देश्य मनोरंजन रहा है, लेकिन साथ ही वे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से पीढ़ियों के संचित ज्ञान की गंगाएँ हैं। ये कहानियाँ मानव इतिहास से कहीं आगे लोक संस्कृति की कलात्मक अभिव्यक्ति है। लोककथाओं या कहानियों में मानवीय रिश्तों का दर्द भी उभरता है। कभी-कभी यो सामाजिक न्याय, नैतिकता, हास्य, व्यंग्य प्रस्तुत करती हैं।

भारतीय लोक कहानियों के संकलन का कार्य बहुत पहले से शुरु हो गया था। कथा सरितसागर, हितोपदेश और पंचतंत्र की लिखित कहानियों से पूर्व लोक की मौखिक परंपरा में प्रचलित थीं। लोक कहानियों में मानवीय जिज्ञासा के वे सभी हल मौजूद हैं, जो जीवन को निखारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये जीवन की सांगोपांग अभिव्यक्ति हैं।

लोक कहानियाँ हमारी वाचिक परंपरा की अमूल्य धरोहर हैं। नानी-दादी के मुँह से सुनी हुई कहानियों का आस्वाद ही कुछ अलग होता है। इस प्राणतत्व को लिखित साहित्य में ढूँढना बेमानी है। फिर भी लोक कहानी की मूल संरचना को लिखित साहित्य बचाने में समर्थ होता है।

हमारी जातीय संस्कृति का छोटे से छोटा उच्छवास लोक कहानियों, कथाओं में इतने सुंदर ढंग से आवृत्त कर लिया जाता है कि हमारे पूर्वजों की मानसिक प्रतिभा और क्षमता को देखकर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। यथार्थ और कल्पना का ऐसा अद्‌भुत संगम और किसी विधा में नहीं देखने को मिलता, जितना लोक कहानी में मिलता है।

(6) प्रकीर्ण साहित्यः

लोक संस्कृति को अभिव्यक्त करने वाले तत्वों के सूक्ष्म अभ्यास के पश्चात् प्रकीर्ण साहित्य का अध्ययन भी उतना ही जरुरी है। जिसके अंतर्गत हम निम्न रूपों का अभ्यास करेंगे जिसके बिना लोक सांस्कृतिक अध्ययन अधूरा है।

(1) लोकोक्ति

(2) कहावतें या मुहावरे

(3) पहेली

(4) प्रतीक

(5) मिथक

(1) लोकोक्ति :

लोकक्ति के संबंध में डॉ. सत्येन्द्र प्रसाद ने कहा है - ''लोकोक्ति कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकार की उक्ति लोकोक्ति है।'' परंतु उसमें अर्थ की व्यापक उक्ति हो। जिसमें कोई गंभीर आशय छिपा हो। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक होता है और संगठन कम से कम अर्थवान शब्दों में होता है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोकोक्तियों को जीवन की गुत्थियों अथवा उलझनों को सुलझाने वाला साधन और मानवीय ज्ञान का धनीभूत रत्न कहा है। वास्तव में ये लोकोक्तियाँ ''गागर में सागर भर देने की क्षमता रखती हैं।'' लोकोक्ति में ऐसा ज्ञानानुभव होता है जो तीनों कालों में सदैव खरा उतरता है। सरल कसी हुई भाषा, प्रभावोत्पादक शैली और लोकरंजन लोकोक्तियों की प्रमुख विशेषता रही है। पश्चिम के लोक साहित्य अध्येला हार्वेल ने लिखा है - शार्टनेस, सेन्स और साल्ट अर्थात् लाधव, अर्थ और रंजकता लोकोक्ति के प्रधान गुण हैं।

मालवी लोक साहित्य के अध्येता डॉ. श्याम परमार ने कहा है - ''जहाँ मनुष्य का तर्क हार मान लेता है, बुद्धि काम नहीं करती है, वहीं छोटी सी उक्ति समाधान करने का सामर्थ्य रखती है।''

निमाड़ी लोक साहित्यकार श्री रामनारायण उपाध्याय ने लिखा है-''लोक कहावतों को यदि सामाजिक न्याय की चलती-फिरती अदालतें कहें तो अत्युक्ति नहीं।''

लोकोक्ति में अनेक प्रकार की नीतियों की सीख सहज मिल सकती है। मिश्र, बेबिलोन, भारत आदि देशों की प्राचीन लोकोक्तियों में नीति की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। लोकोक्ति एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसमें जीवन के सुख-दुख, हास-परिहास, रंग-व्यंग्य, अतीत, वर्तमान की छोटी-छोटी धड़कन देखी जा सकती है। अतः लोक की कोई सारगर्भित उक्ति लोकोक्ति है।

लोकोक्ति का मुख्य उद्देश्य ज्ञान, शिक्षा और निर्णय देना है। विचारशील मानव ने अपनी वाणी को अधिक प्रभावी बनाने के लिए कुछ ऐसे अनुभवी सूत्र वाक्यों की रचना की जिसका सुनने वाले पर असर पड़े बिना न रहे। ऐसी ही लोक की उक्तियाँ लोक साहित्य में लोकोक्तियाँ बन गईं। लोकोक्ति सर्वकालिक होती हैं।

लोकोक्ति में हमारे इतिहास, संस्कृति और प्रकृति के अनेक सिद्ध तत्वों का समावेश होता है, जिसमें जीवन की समस्त खरी व्याख्या छिपी होती है।

(2) कहावत :

लोक में कहावत को केवात, केणात, कवाड़ा, उक्खान आदि नामों से जाना जाता है। कहावत का शाब्दिक अर्थ कही हुई बात पर हर कही हुई बात कहावत नहीं होती। कहावत अनुभव सिद्ध बात होती है। कहावत एक तपे हुए सुवर्ण की तरह हर काल में खरी होती है। मैक्सिम गोर्की के शब्दों में - ''कहावतें और मुहावरे श्रमिक जनता की संपूर्ण सामाजिक और ऐतिहासिक अनुभूतियों के संक्षिप्त रूप हैं।'' डॉ. वासुदेवशरण अगवाल की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है कि 'कहावतें हमारी जातीय बुद्धिमता के समुचित सूत्र हैं।'

कहावत ज्ञान और अनुभव की घनीभूत रचनाएँ हैं। इनका अनुभव संसार अत्यंत व्यापक होता है। वे इस लोक से परलोक तक की यात्राएँ करती हैं। कहावतों में कही बातें सत्य को उजागर करती हैं। वे मानव मन और संस्कारों को झकझोरती ही नहीं, बल्कि तत्काल क्रिया-प्रक्रिया के परिणाम तक ले जाने में समर्थ होती हैं। ये सूत्र वाक्य हैं। कहावतें स्वयं सिद्ध वाक्य हैं। कहावत व मुहावरे सदैव प्रासंगिक होते हैं।

कहावत दो या तीन शब्द, एक पंक्ति या डेढ़ पंक्ति से लगाकर छंदबद्ध दोहा, चौपाई रूप में मिलती है। कहावतें सदैव एक बार सुनने या पढ़ने से याद रह जाती हैं। जो व्यक्ति अपनी बात को कहावतों, मुहावरों की सहायता से प्रकट करता है उसका श्रोताओं के मनोमस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

कहावत में किसी सामाजिक विसंगति की व्याख्या ढूँढी जा सकती है। कहावत व्यंग्य करती है, गुदगुदाती है, तिलमिला देती है, शांत करती है, यहाँ तक कि वे कोई न कोई सामाजिक न्याय भी कर देती हैं। कहावतों व मुहावरों की भाषा कसी हुई, काव्य से कम नहीं होती इनमें रूपक, उपमा, श्लेष, यमक और अन्योक्ति आदि अलंकार भी देखे जाते हैं।

कहावतें जीवन की वे सच्चाईयाँ हैं, जिन्हें मनुष्य अपने जीवन में घटित होते हुए कई बार प्रत्यक्ष रूप में देखता है। हमारे जीवन व्यवहार का सार कहावत व मुहावरे हैं। कहावतें व मुहावरे ऐसे छोटे-छोटे सच हैं, जो कम से कम शब्दों में हर परिस्थिति में पूरी ताकत के साथ उजागर होते हैं और चमत्कारिक प्रभाव प्रकट करते हैं।

(3) पहेली :

मुकरियाँ, कूटपद, बुझौवल, पाड़छी, पारसी, अटका, ढकोसला आदि पहेली के विभिन्न नाम हैं। संस्कृति में इसे प्रहेलिका कहते हैं। इसमें प्रत्यक्ष वस्तु को छिपाकर उस पर समान रूप, गुण, आकार-प्रकार की किसी दूसरी वस्तु के वर्णन का आरोप किया जाता है। शब्दों के अर्थो की लक्षणा, व्यंजना को ग्रहण कर पहेली के उत्तर तक पहुँचा जा सकता है।

पहेली कोश के प्रणेता डॉ. विक्रमादित्य मिश्र लिखते हैं - ''पहेलियाँ सूत्रबद्ध शैली में निबद्ध अनादिकाल से चले आ रहे गहरे चिंतन मनन का परिणाम हैं तथा जिन्हें उपाख्यान गल्प, लोककथा, लोकोक्ति आदि की श्रेणी में रखा जाता है।''

पहेली अप्रकृत के बहाने प्रकृत का वर्णन करती है। यह प्रतीकात्मक होती है। इसकी पहली शर्त चित्रात्मकता व बिंबात्मकता है। यह बुद्धि विलास और विकास की छोटी-छोटी गागरें हैं। इसमें अद्‌भुत चमत्कार छिपे होते हैं। पहेली बूझते समय बड़े-बड़े की बुद्धि चकरा जाती है। पहेलियाँ समय सापेक्ष हैं। नयी से नयी पहेलियों का सृजन लोक की बुद्धि कसती आयी है। पहेली हमारी संस्कृति की अनेक परंपराओं, रीतियों और विश्वासों की संवाहक हैं।

पहेली वाचिक परंपरा की अर्थवान धरोहर है। शैली की द्रष्टि से पहेली में इतने प्रयोग पाए जाते हैं कि लोक साहित्य की किसी और विधा में नहीं दिखाई देते। कोई पहेली गीत के रूप में हो तो उसका जवाब भी गीत रूप में दिया जाता है। प्रत्येक पहेली अपना मौलिक अस्तित्व रखती है एवं अर्थ की दृष्टि से स्वतंत्र स्थान भी रखती है।

पहेली लोक और शास्त्र दोनों में बहुत लोकप्रिय विधा रही है। आज भी लोक में पहेली बच्चों के मनोरंजन के साथ ज्ञान बढ़ाने का काम करने वाली एक जीवंत विधा है। इसलिए पं. रामनरेश त्रिपाठी ने पहेलियों को ''बुद्धि पर शान चढ़ाने का यंत्र कहा है, ये स्मरण शक्ति और वस्तुज्ञान बढ़ाने की कलें हैं।''

(4) प्रतीकः

लोक में कोई संवेदनशील बात प्रतीक रूप में कही जाने की परंपरा है। वाचिक परंपरा में शब्दों के माध्यम से, कलाओं में रंग रेखाओं और आकृतियों के माध्यम से तथा प्रदर्शनकारी कलाओं में स्वर, लय, ताल, अभिनय के द्वारा प्रतीक साकार होते हैं। भाषा स्वयं एक प्रतीक है। अर्थ, बिंब, अभिप्राय से मिलकर प्रतीक बनता है। साहित्य और कला में प्रतीक के माध्यम से बात कहने का प्रचलन लोक से ग्रहण किया गया है।

डॉ. जगदीश गुप्त ने लिखा है - ''प्रतीक रूपक के बहुत नजदीक होता है। प्रतीक आरोपित नहीं होते लेकिन रूपक में एक वस्तु दूसरी वस्तु की सदृश्यता के कारण पूरी ढँक लेती है। प्रतीक में ऐसा बलात् कभी नहीं होता , प्रतीक किसी के बदले रूप में युगों से प्रचलित है। प्रकृति और अद्रश्य शक्तियों की अभिव्यक्ति प्रतीक के माध्यम से होती आई है।''[1]

प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को समझने में मनुष्य ने अपनी कल्पना और तर्कशक्ति से जो बिंब, अभिप्राय, संकेत चुने वही प्रतीक कहलाए। प्रतीक में समानता का भाव होता है। प्रतीक में किसी चीज को आरोपित भी नहीं किया जाता। किसी देवता या मूर्ति के सात्विक भाव प्रतीक द्वारा ही दिखाए जा सकते हैं। सबसे पहले पेड़ पौधों में देवत्व की कल्पना की गई, तब पूरा पेड़ प्रतीक बन गए, वृक्ष पूजा (पीपल पूजा) उसी का प्रमाण है। फिर पाषाण में देवत्व मान प्रतीकों को समाहित किया गया। ओम, स्वस्तिक, क्रास आदि केवल प्रतीक मात्र

1. डॉ. जगदीश गुप्त - प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस - दिल्ली

ही नहीं, इनमें पूरी संस्कृति की पहचान छिपी है। हमारे पूर्व कवि-मनीषियों ने भारतीय संस्कृति को ऐसे पुरातन प्रतीकों से समृद्ध किया, जिसके कारण भारत की सभ्यता संस्कृति सबसे श्रेष्ठ और प्राचीनतम गिनी गई।

प्रतीक हर समय बनते मिटते हैं। पुराने प्रतीकों की जगह नये प्रतीक बनते हैं। प्रतीक मानव की वह अभिव्यक्ति है जिसे वह सीधे नहीं कह पाता, लेकिन उसे छिपा भी नहीं पाता, उसे सादृश्य भाव के बिम्बों से प्रकट करता है, तब वह संरचना प्रतीक बन जाती है। प्रतीक, भाव और तर्क की वैज्ञानिक अभिव्यक्ति हैं।

(5) मिथक:

मिथ या मिथक आज बहुप्रचलित शब्द हैं। माइथस यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है, आप्तवचन, किवदन्ती कथा। इसी से अंग्रेजी का मिथ (myth) शब्द बना है। भारतीय संस्कृति में पूरा आख्यान शब्द मिथ या मिथक के लिए चलन में रहा है। मिथक की उत्पत्ति संकेत युग के पश्चात् अभिव्यक्ति के स्तर पर भाषा के विकास के बाद हुई है। संकेत, बिंब, प्रतीक और अभिप्राय मिलाकर मिथक की रचना करते हैं। मिथक धर्म और संस्कृति का निर्माण करते हैं। सूर्य का आना, चंद्र की शीतलता, बादलों की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक, फूलों का खिलना इत्यादि रोमांचकारी व्यापार थे जिनके इर्द-गिर्द मिथक चक्र घूमता है।

डॉ. नगेन्द्र ने मिथ की व्याख्या करते हुए लिखा है - पुराणकथा, धर्मगथा, यानी मिथक कोई ऐसी कथा जो विचारणा एवं आलोचना शक्ति से सर्वथा शून्य आदिम चेतना की स्वयं स्फूर्त उद्‌भावना हो और जिसमें प्रकृति की शक्तियों का देहधारी या अर्द्धदैहिक रूपों में प्रतिधान किया गया हो, जो अति मानवीय कार्य संपन्न करते हैं।

मिथकों के निर्णय विश्व के किसी सत्य तक पहुँचने का रास्ता दिखा देते हैं। मिथक धर्म की पहली सीढ़ी है। मिथकों का सच एक वैज्ञानिक सत्य होता है जिसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं होती या बहुत कम होती है। मिथक के निष्कर्ष सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सर्वमान्य होते हैं। मिथक से बाहर विश्व की कोई परिकल्पना नहीं की गई है, सब कुछ मिथक सृष्टि के अंदर निहित है।

*****